॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ नवमोऽध्यायः

(नवाँ अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

इदम्	= यह	**ते**	= तेरे लिये	**ज्ञात्वा**	= जानकर (तू)
गुह्यतमम्	= अत्यन्त गोपनीय	**तु**	= तो (मैं फिर)	**अशुभात्**	= अशुभसे अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे
विज्ञानसहितम्	= विज्ञानसहित	**प्रवक्ष्यामि**	= अच्छी तरहसे कहूँगा,		
ज्ञानम्	= ज्ञान				
अनसूयवे	= दोषदृष्टिरहित	**यत्**	= जिसको	**मोक्ष्यसे**	= मुक्त हो जायगा।

विशेष भाव—संसार 'प्रकट' है। कर्मयोग (निष्कामभाव) प्रकट न होनेसे 'गुह्य' है। उससे भी गुप्त होनेसे ज्ञानयोग (आत्मज्ञान) 'गुह्यतर' है। ज्ञानयोगसे भी गुप्त होनेसे भक्तियोग (परमात्मज्ञान) 'गुह्यतम' है। गुह्य और गुह्यतर तो लौकिक हैं, पर गुह्यतम अलौकिक है।

ब्रह्मलोकतकके सभी लोक पुनरावर्ती होनेसे 'अशुभ' हैं (गीता ८। १६)। गुह्यतम विषयको जान लेनेसे मनुष्य अशुभसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। अशुभसे मुक्ति तो कर्मयोग और ज्ञानयोगसे भी हो जाती है, पर यहाँ अशुभसे मुक्ति होनेका तात्पर्य है—एक परमात्माके सिवाय अन्यकी किंचिन्मात्र भी सत्ता न रहे, अहम्की वह सूक्ष्म गन्ध भी न रहे, जिससे दार्शनिक मतभेद पैदा होते हैं।

अपने स्वरूपको जानना 'ज्ञान' है और समग्र भगवान्को जानना 'विज्ञान' है। निर्गुणके अन्तर्गत तो सगुण (समग्र) नहीं आ सकता, पर सगुणके अन्तर्गत निर्गुण भी आ जाता है, इसलिये सगुणका ज्ञान 'विज्ञान' अर्थात् विशेष ज्ञान है।

~~~

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २ ॥

इदम्	= यह (विज्ञानसहित ज्ञान अर्थात् समग्ररूप)	**पवित्रम्**	= यह अति पवित्र (तथा)	**धर्म्यम्**	= यह धर्ममय है,
				अव्ययम्	= अविनाशी है (और)
राजविद्या	= सम्पूर्ण विद्याओंका राजा (और)	**उत्तमम्**	= अतिश्रेष्ठ है (और)	**कर्तुम्**	= करनेमें
				सुसुखम्	= बहुत सुगम है अर्थात् इसको प्राप्त करना बहुत सुगम है।
राजगुह्यम्	= सम्पूर्ण गोपनीयोंका राजा है।	**प्रत्यक्षावगमम्**	= इसका फल भी प्रत्यक्ष है।		

विशेष भाव—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग 'राजविद्या' है और भक्तियोग 'राजगुह्य' है। इसी अध्यायके चौथे-पाँचवें श्लोकोंमें राजविद्याकी और चौंतीसवें श्लोकमें राजगुह्यकी बात मुख्यतासे कही गयी है।
~~~

'प्रत्यक्षावगमम्'—इसका प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) फल होता है। कर्मयोगसे शान्ति, ज्ञानयोगसे मुक्ति और भक्तियोगसे प्रेम प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। भगवान्‌के शरणागत होनेपर निर्भयता, नि:शोकता, निश्चिन्तता और नि:शंकता प्रत्यक्षमें प्राप्त होती है। अपने स्वरूपकी सत्ता-स्फूर्ति (सत्-चित्), अपने होनेपनका ज्ञान (अनुभव) भी प्रत्यक्ष है।

'धर्म्यम्'—यह धर्मसे रहित नहीं है, प्रत्युत धर्ममय है, धर्मसे ओतप्रोत है। इसको जाननेसे मनुष्यजीवन सफल हो जाता है अर्थात् मनुष्य कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाता है।

'सुसुखं कर्तुम्'—यह करनेमें बहुत सुगम है; क्योंकि यह स्वत: प्राप्त है। सब कुछ परमात्मा ही हैं—इसमें कोई परिश्रम नहीं है, यह तो केवल स्वीकृति है। कर्मयोगकी दृष्टिसे जो वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत दूसरोंकी है, उसको दूसरोंकी सेवामें लगानेमें क्या जोर आता है! ज्ञानयोगकी दृष्टिसे अपने-आपमें स्थित होनेमें क्या जोर आता है! भक्तियोगकी दृष्टिसे जो अपना है, उसकी तरफ जानेमें क्या जोर आता है! ये सब काम सुखपूर्वक होते हैं।

'अव्ययम्'—वास्तवमें अविनाशी और अन्तिम तत्त्व यही है इससे आगे कुछ नहीं है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

परन्तप	=हे परन्तप!	**पुरुषाः**	=मनुष्य		संसारके मार्गमें
अस्य	=इस	**माम्**	=मुझे	**निवर्तन्ते**	=लौटते रहते हैं
धर्मस्य	=धर्मकी महिमापर	**अप्राप्य**	=प्राप्त न होकर		अर्थात् बार-बार
अश्रद्दधानाः	=श्रद्धा न रखनेवाले	**मृत्युसंसारवर्त्मनि**	= मृत्युरूप		जन्मते-मरते रहते हैं।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें कही विज्ञानसहित ज्ञानकी महिमापर श्रद्धा न रखनेवाले मनुष्य इससे लाभ नहीं उठाते, प्रत्युत नाशवान् भोगोंको महत्त्व देकर उन्हींमें लगे रहते हैं। इसलिये वे भगवान्‌को प्राप्त न होकर बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं, स्वत:प्राप्त अमरताका रास्ता छोड़कर मृत्युके रास्तेपर चलते रहते हैं।

'अप्राप्य माम्' कहनेका तात्पर्य है कि मनुष्यशरीरमें भगवान्‌की प्राप्तिका मौका था, मनुष्य भगवत्प्राप्तिके नजदीक आ गया था, पर श्रद्धा न होनेके कारण वह भगवान्‌की प्राप्ति न करके संसारमें ही घूमता रहता है। जो नित्य विद्यमान है, उसको न मानकर वह जो एक क्षण भी नहीं टिकता, उसको मानता है। उसका अन्त:करण इतना अशुद्ध होता है कि भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर भी उसपर श्रद्धा नहीं करता। जैसे—सत्संग, कीर्तन आदिमें प्रत्यक्ष लाभ दीखनेपर भी वह उसमें विशेषतासे नहीं लगता। किसी प्रिय व्यक्तिकी मृत्यु होनेपर या अन्य कोई घटना घटनेपर उसको संसारसे वैराग्य होता है, फिर भी वह उसमें स्थिर नहीं रहता। आश्विन कृष्ण १२, सं० २०५२ (दिनांक २१.९.९५) को भूमण्डलमात्रमें भगवान् गणेशजीकी प्रतिमाओंके द्वारा दूध पीनेकी प्रत्यक्ष घटना लोगोंके देखनेमें आयी। परन्तु अपनेको बुद्धिमान् समझनेवाले कई लोगोंने ऐसी प्रत्यक्ष घटनापर भी श्रद्धा नहीं की और अखबार, टेलिविजन आदिके माध्यमसे इसका खण्डन किया। कौरवोंकी सभामें भी जब द्रौपदीका चीर-हरण करनेकी चेष्टा की गयी, तब साड़ियोंका ढेर लग गया, पर दु:शासन द्रौपदीको किंचिन्मात्र भी नग्न नहीं कर सका। इतना बड़ा चमत्कार प्रत्यक्ष देखनेपर भी कौरवोंको चेत नहीं हुआ! अत: जिनकी बुद्धि तामसी है,* अशुद्ध है, उनपर ऐसी विलक्षण घटनाओंका असर नहीं पड़ता, उनकी श्रद्धा नहीं होती। उनको सब उलटा-ही-

* **अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।**
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

'हे पृथानन्दन! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म और सम्पूर्ण चीजोंको उलटा मान लेती है, वह तामसी है।'

उलटा दीखता है। ऐसे अश्रद्धालु मनुष्य अमरताके मार्गको छोड़कर मृत्युके मार्गमें चलते रहते हैं, जिसमें केवल मृत्यु-ही-मृत्यु है। वे उस मार्गको पकड़ लेते हैं, जिस मार्गसे कभी भगवान्‌की प्राप्ति न हो सके।

अपराको पकड़नेसे ही मनुष्य मौतके रास्तेमें चला जाता है। अगर वह अपराको न पकड़े, प्रत्युत जिसकी अपरा है, उस भगवान्‌को पकड़े तो सदाके लिये जन्म-मरणसे मुक्त हो जाय! मनुष्य इसी जन्ममें मुक्त हो सकता है और मुक्तिसे भी बढ़कर भगवान्‌का प्रेम (भक्ति) प्राप्त कर सकता है। परन्तु भगवान्‌से इतनी बड़ी योग्यता, पात्रता, अधिकारिता पाकर भी वह मौतके रास्तेमें चल पड़ा! इसलिये भगवान् दु:खके साथ कहते हैं—**'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि'**! और **'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्'** (गीता १६। २०)। इससे सिद्ध होता है कि अभी कल्याणप्राप्तिका बड़ा सुन्दर मौका है। मनुष्य खुद अपने कल्याणमें लग जाय तो इसमें धर्म, ग्रन्थ, महात्मा, संसार, भगवान् सब सहायता करते हैं!

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

इदम्	= यह	**अहम्**	= मैं	**पश्य**	= देख।
सर्वम्	= सब	**तेषु**	= उनमें	**भूतभावनः**	= सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला
जगत्	= संसार	**न, अवस्थितः**	= स्थित नहीं हूँ		
मया	= मेरे	**च**	= तथा	**च**	= और
अव्यक्तमूर्तिना	= निराकार स्वरूपसे	**भूतानि**	= (वे) प्राणी (भी)	**भूतभृत्**	= प्राणियोंका धारण, भरण-पोषण करनेवाला
		मत्स्थानि	= मुझमें स्थित		
ततम्	= व्याप्त है।	**न**	= नहीं हैं—	**मम**	= मेरा
सर्वभूतानि	= सम्पूर्ण प्राणी	**मे**	= मेरे (इस)	**आत्मा**	= स्वरूप
मत्स्थानि	= मुझमें स्थित हैं;	**ऐश्वरम्**	= ईश्वर-सम्बन्धी	**भूतस्थः**	= उन प्राणियोंमें स्थित
च	= परन्तु	**योगम्**	= योग-(सामर्थ्य-) को	**न**	= नहीं है।

विशेष भाव—'मया ततमिदं सर्वम्' कहनेका तात्पर्य है कि बर्फमें जलकी तरह संसारमें सत्ता ('है')-रूपसे एक सम, शान्त, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। जिसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है, उस संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। अज्ञानके कारण संसारमें जो सत्ता प्रतीत हो रही है, वह भी परमात्मतत्त्वकी सत्ताके कारण ही है। जब सबमें एक अविभक्त सत्ता ('है') ही परिपूर्ण है तो फिर उसमें मैं, तू, यह और वह—ये चार विभाग कैसे हो सकते हैं? अहंता और ममता कैसे हो सकती है? राग-द्वेष कैसे हो सकते हैं? जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको मिटानेका अभ्यास भी कैसे हो सकता है?

भगवान्‌ने **'मत्स्थानि सर्वभूतानि'** के लिये **'न च मत्स्थानि भूतानि'** पद कहे हैं और **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'** के लिये **'न चाहं तेष्ववस्थितः'** पद कहे हैं। जबतक साधकमें यह भाव है कि परमात्मा और संसार दो हैं, तबतक उसको यह समझना चाहिये कि परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं (गीता ६। ३०)। परन्तु जब दोका भाव न हो, तब न परमात्मामें संसार है और न संसारमें परमात्मा हैं।

संसारको स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५) संसारकी स्वतन्त्र सत्ता अहंता, ममता और कामनाके कारण ही है। अत: जबतक अहंता, ममता और कामना है, तबतक (साधककी दृष्टिमें) परमात्मामें संसार है और संसारमें परमात्मा हैं। परन्तु अहंता, ममता और कामनाके मिटनेपर (सिद्धकी दृष्टिमें) न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**।

परमात्मामें संसार है, संसारमें परमात्मा हैं—यह 'ज्ञान' है और न परमात्मामें संसार है, न संसारमें परमात्मा हैं अर्थात् परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—यह 'विज्ञान' है।

श्रीमद्भागवतमें आया है कि जबतक साधककी दृष्टिमें जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता है, तबतक वह अपने बर्तावके द्वारा प्राणियोंमें भगवद्‌बुद्धिसे उपासना करे*। परन्तु जब उसकी दृष्टिमें जगत्‌की सत्ता न रहे अर्थात् केवल भगवान् ही रह जायँ, तब 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस चिन्तनसे भी उपराम हो जाय†।

'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः'—भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करते हैं—**'अहं सर्वस्य प्रभवः'** (गीता १०। ८), **'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः'** (गीता ७। ६)। उन प्राणियोंका भरण-पोषण भी भगवान् ही करते हैं—**'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः'** (गीता १५। १७)। सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करने तथा उनका भरण-पोषण करते हुए भी भगवान् उनमें लिप्त, आसक्त नहीं होते, उनके आश्रित नहीं होते। भगवान् उन प्राणियोंमें स्थित नहीं हैं; अतः उन प्राणियों और पदार्थोंमें आसक्त होनेसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती।

वास्तवमें एक चिन्मय सत्ताके सिवाय जड़ताकी सत्ता है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। जड़ता-(संसार-) की सत्ता, महत्ता और सम्बन्ध केवल कामना- (भोगेच्छा-) के कारण ही है। अतः जबतक सुखकी इच्छा है, तभीतक यह संसार है।

जो परमात्मामें संसारको देखते हैं अर्थात् संसारको परमात्मरूपसे न देखकर संसाररूपसे (जड़) देखते हैं, वे नास्तिक होते हैं। परन्तु जो संसारमें परमात्माको देखते हैं अर्थात् संसारको संसाररूपसे न देखकर परमात्मरूपसे (चिन्मय) देखते हैं, वे आस्तिक होते हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

यथा	= जैसे	**नित्यम्**	= नित्य ही	**भूतानि**	= प्राणी
सर्वत्रगः	= सब जगह विचरनेवाली	**आकाश-स्थितः**	= आकाशमें स्थित रहती है,	**मत्स्थानि**	= मुझमें ही स्थित रहते हैं—
महान्	= महान्	**तथा**	= ऐसे ही	**इति**	= ऐसा
वायुः	= वायु	**सर्वाणि**	= सम्पूर्ण	**उपधारय**	= तुम मान लो।

विशेष भाव—जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है तथा आकाशमें ही लीन हो जाती है अर्थात् आकाशको छोड़कर वायुकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी भगवान्‌से ही उत्पन्न होते हैं, भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं तथा भगवान्‌में ही लीन हो जाते हैं अर्थात् भगवान्‌को छोड़कर

---

* **यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।**
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं' ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों-(बर्ताव-)से मेरी उपासना करता रहे।'

† **सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।**
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है' ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही है' यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगे।'

प्राणियोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—इस बातको साधक दृढ़तासे स्वीकार कर ले तो उसको **'सब कुछ भगवान् ही हैं'** इस वास्तविक तत्त्वका अनुभव हो जायगा।

इस श्लोकको समझनेके लिये कार्य-कारणभाव जैसा ठीक बैठता है, वैसा विवर्तवाद ठीक नहीं बैठता। 'विवर्त' का अर्थ है—विरुद्ध बर्ताव। जो नहीं है और दीखता है, जैसे रस्सीमें साँप दीखना—यह विवर्तवाद है। विवर्तवादमें दो सत्ता होना आवश्यक है; जैसे-रस्सी और उसमें दीखनेवाला साँप—दोनोंकी अलग-अलग (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) सत्ता है। परन्तु गीताके इस श्लोकमें आकाश और वायुका दृष्टान्त दिया गया है, जो दोनों एक ही (व्यावहारिक) सत्ता है। तात्पर्य है कि रस्सीमें साँपकी तरह आकाशमें वायु अध्यस्त नहीं है अथवा आकाशमें वायुकी प्रतीतिमात्र नहीं है, प्रत्युत वायु आकाशका कार्य है। कार्यकी कारणके साथ अभिन्नता होती है अर्थात् कार्य और कारणकी एक सत्ता होती है; जैसे—सोना और उसका कार्य गहने—दोनोंकी एक सत्ता है। अतः जैसे सोना और गहने— दोनोंमें तत्त्वसे एक सोना-ही-सोना है, ऐसे ही परमात्मा और सम्पूर्ण प्राणी—दोनोंमें तत्त्वसे एक परमात्मा-ही-परमात्मा है। इसी बातको गीताने **'वासुदेवः सर्वम्'** (७। १९) और **'सदसच्चाहम्'** (९। १९) पदोंसे कहा है, जो गीताका खास सिद्धान्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त नहीं है, प्रत्युत संसारमें सत्यत्वबुद्धि हटानेका एक साधन है।

अगर वायु स्पन्दित हो तो वायुमें आकाश है और आकाशमें वायु है। अगर वायु स्पन्दित न हो तो न वायुमें आकाश है, न आकाशमें वायु है अर्थात् आकाश-ही-आकाश है। दूसरे शब्दोंमें, जबतक वायुकी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यता है, तबतक आकाशमें वायु और वायुमें आकाश है। परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो न आकाशमें वायु है, न वायुमें आकाश है अर्थात् आकाश-ही-आकाश है। इसी तरह तात्त्विक दृष्टिसे न परमात्मामें प्राणी हैं, न प्राणियोंमें परमात्मा है अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा है (गीता ९। ४-५)।

इस श्लोकमें वायुके लिये दो पद आये हैं—**'सर्वत्रगः'** और **'महान्'**। इससे यह समझना चाहिये कि जीवात्मा भी संसारकी दृष्टिसे (प्रकृतिके सम्बन्धसे) चौरासी लाख योनियाँ, तीन लोक, चौदह भुवन आदिमें घूमनेके कारण **'सर्वत्रगः'** है। **'महान्'** पदसे अनन्त ब्रह्माण्डोंके सभी जीव (जीव-समुदाय) समझना चाहिये। जैसे वायु नित्य ही आकाशमें स्थित रहती है अर्थात् वायुका आकाशके साथ नित्य सम्बन्ध है, ऐसे ही जीवमात्रका परमात्माके साथ नित्य सम्बन्ध (नित्ययोग) है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीनन्दन!	**सर्वभूतानि**	=सम्पूर्ण प्राणी		(महासर्गके समय)
कल्पक्षये	=कल्पोंका क्षय होनेपर (महाप्रलय-के समय)	**मामिकाम्**	=मेरी	**अहम्**	=मैं
		प्रकृतिम्	=प्रकृतिको	**पुनः**	=फिर
		यान्ति	=प्राप्त होते हैं (और)	**तानि**	=उनकी
		कल्पादौ	=कल्पोंके आदिमें	**विसृजामि**	=रचना करता हूँ।

विशेष भाव—सृष्टिमें तीन बातें मुख्य हैं—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय। साधककी दृष्टि संसारकी स्थितिकी तरफ ही रहती है, इसलिये पहले पूर्वश्लोकमें स्थितिकी बात कहकर अब भगवान् इस श्लोकमें उत्पत्ति और प्रलयकी बात कहते हैं। तात्पर्य है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—तीनों ही समग्र परमात्मासे होते हैं।

वास्तवमें संसारकी स्थिति है ही नहीं, प्रत्युत उत्पत्ति और प्रलयके प्रवाहको ही स्थिति कह देते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो संसारकी उत्पत्ति भी नहीं है, प्रत्युत प्रलय-ही-प्रलय अर्थात् अभाव-ही-अभाव है। अतः संसारका प्रलय, अभाव अथवा वियोग ही मुख्य है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

प्रकृतेः	=प्रकृतिके	**कृत्स्नम्**	=सम्पूर्ण	**प्रकृतिम्**	=प्रकृतिको
वशात्	=वशमें होनेसे	**भूतग्रामम्**	=प्राणिसमुदायकी (कल्पोंके आदिमें)	**अवष्टभ्य**	=वशमें करके
अवशम्	=परतन्त्र हुए			**पुनः, पुनः**	=बार-बार
इमम्	=इस	**स्वाम्**	=(मैं) अपनी	**विसृजामि**	=रचना करता हूँ।

विशेष भाव—तत्त्वसे प्रकृति भगवान्से अभिन्न है। अतः वास्तवमें भगवान्का स्वरूप प्रकृतिसहित ही है। भगवान्को प्रकृतिरहित मानना उनको एकदेशीय मानना है, जो सम्भव ही नहीं है।

'अवशं प्रकृतेर्वशात्'—परा प्रकृति अर्थात् स्वयं सर्वथा स्वतन्त्र (स्वस्थ) है। विजातीय अपरा प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही वह परतन्त्र (प्रकृतिस्थ) हुआ है, अन्यथा वह परतन्त्र हो सकता ही नहीं। गुणोंका संग होना ही परतन्त्रता है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)।

जो प्रकृतिके वशमें (अवश) हैं, उन्हीं प्राणियोंकी भगवान् बार-बार रचना करते हैं। जो प्रकृतिके वशमें (अवश) नहीं हैं, उनकी रचना नहीं होती—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९॥

धनञ्जय	=हे धनञ्जय!	**च**	=और	**तानि**	=वे
तेषु	=उन (सृष्टि-रचना आदि)	**उदासीनवत्**	=उदासीनकी तरह	**कर्माणि**	=कर्म
कर्मसु	=कर्मोंमें	**आसीनम्**	=रहते हुए	**न**	=नहीं
असक्तम्	=अनासक्त	**माम्**	=मुझे	**निबध्नन्ति**	=बाँधते।

विशेष भाव—कर्मोंसे मनुष्य बँधता है **(कर्मणा बध्यते जन्तुः)**—इस सांसारिक दृष्टिसे ही भगवान् कहते हैं कि मैं कर्मोंसे नहीं बँधता (गीता ४। १४); क्योंकि मेरेमें न कर्मासक्ति है, न फलासक्ति है और न कर्तृत्व है। परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो कर्मोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं! सृष्टि-रचना-रूप कर्म भगवान्का ही स्वरूप है—**'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्'** (गीता ७। २९), **'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः'** (गीता ८। ३)। तात्पर्य है कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि जो कुछ हो रहा है, वह सब भगवान्के द्वारा ही हो रहा है तथा भगवान्का ही स्वरूप है। उत्पन्न करनेवाला तथा उत्पन्न होनेवाला, पालन करनेवाला तथा पालित होनेवाला, नाश करनेवाला तथा नष्ट होनेवाला—ये सब एक ही समग्र भगवान्के अंग (स्वरूप) हैं—**'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'** (गीता ७। ६)।

सब कुछ भगवान् ही हैं, दूसरा कोई है ही नहीं, फिर भगवान् किससे उदासीन हों? इसलिये भगवान्ने अपनेको **'उदासीनवत्'** अर्थात् उदासीनकी तरह कहा है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

प्रकृतिः	= प्रकृति		जगत्‌की	**हेतुना**	= हेतुसे
मया	= मेरी	**सूयते**	= रचना करती है।	**जगत्**	= जगत्‌का (विविध प्रकारसे)
अध्यक्षेण	= अध्यक्षतामें	**कौन्तेय**	= हे कुन्तीनन्दन!		
सचराचरम्	= चराचरसहित सम्पूर्ण	**अनेन**	= इसी	**विपरिवर्तते**	= परिवर्तन होता है।

विशेष भाव—भगवान्‌से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही प्रकृति चराचरसहित सम्पूर्ण प्राणियोंकी रचना करती है अर्थात् सब परिवर्तन प्रकृतिमें ही होता है, भगवान्‌में नहीं। जबतक प्राणियोंका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है, तबतक प्रकृतिकी परवशताके कारण उनमें विविध परिवर्तन होता रहता है अर्थात् उनकी कहीं भी स्थायी स्थिति नहीं होती, प्रत्युत वे जन्म-मरणके चक्रमें घूमते रहते हैं।

प्रकृति तो परमात्माके अधीन रहकर सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना करती है, पर जीव प्रकृतिके अधीन होकर जन्म-मरणके चक्रमें घूमता है। तात्पर्य है कि परमात्मा तो स्वतन्त्र हैं, पर उनका अंश जीवात्मा सुखकी इच्छाके कारण परतन्त्र हो जाता है।

तत्त्वसे भगवान् (शक्तिमान्) और प्रकृति (शक्ति) एक होते हुए भी मनुष्योंको समझानेकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं कि सृष्टिकी रचनामें प्रकृतिका मुख्य हाथ है। वास्तवमें न प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता है, न कर्मोंकी।

अगर भगवान् और उनकी प्रकृतिको अलग-अलग देखें तो संसारका उपादानकारण प्रकृति है और निमित्त-कारण भगवान् हैं; क्योंकि संसार-रूपसे भगवान् परिणत नहीं होते, प्रत्युत प्रकृति परिणत होती है। परन्तु भगवान् और उनकी प्रकृतिको एक देखें (जो कि वास्तवमें एक हैं) तो भगवान् संसारके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं।

सातवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌ने परा और अपरा प्रकृतिके स्वरूपका वर्णन किया है और यहाँ (नवें अध्यायके आरम्भमें) उनके कार्यों-(उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-) का वर्णन किया है, जो भगवान्‌की लीला है। तात्पर्य है कि सातवें अध्यायमें परा-अपराका वर्णन मुख्य है और यहाँ परा-अपराके मालिक-(परमात्मा-)का वर्णन मुख्य है। इस अध्यायमें भगवान्‌की लीला, प्रभाव, ऐश्वर्यका विशद वर्णन है, जिससे साधकका भगवान्‌में प्रेम हो जाय, वह मुक्तिमें अटके नहीं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

मूढाः	= मूर्खलोग	**अजानन्तः**	= न जानते हुए	**आश्रितम्**	= आश्रित मानकर अर्थात् साधारण मनुष्य मानकर
मम	= मेरे	**माम्**	= मुझे		
भूतमहेश्वरम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप	**मानुषीम्,**		**अवजानन्ति**	= (मेरी) अवज्ञा करते हैं।
परम्, भावम्	= श्रेष्ठभावको	**तनुम्**	= मनुष्यशरीरके		

विशेष भाव—इस श्लोकमें भगवान्‌के प्रभावका विशेष वर्णन हुआ है। भगवान्‌से बड़ा कोई ईश्वर नहीं है। वे सर्वोपरि हैं। परन्तु अज्ञानी मनुष्य उनको स्वरूपसे नहीं जानते। वे अलौकिक भगवान्‌को भी अपनी तरह लौकिक समझते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण एक योगी थे, ईश्वर नहीं थे। योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि (योगदर्शन २। २९)। इनमें सबसे पहले 'यम' आता है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (योगदर्शन २। ३०)। अतः जो योगी होगा, वह 'यम' का पालन अवश्य करेगा अर्थात् वह सत्य ही बोलेगा। अगर वह असत्य बोलता है तो वह योगी नहीं हो सकता; क्योंकि उसने योगके पहले अंग (यम) का ही पालन नहीं किया! गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने

जगह-जगह अपनेको ईश्वर कहा है*। अतः अगर वे योगी हैं तो वे सत्य बोलते हैं और अगर वे सत्य बोलते हैं तो वे समग्र ईश्वर हैं—यह मानना ही पड़ेगा।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

आसुरीम्	=(जो) आसुरी,	**विचेतसः**	=ऐसे अविवेकी मनुष्योंकी	**मोघज्ञानाः**	=सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् उनकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान (समझ) सत्-फल देनेवाले नहीं होते।
राक्षसीम्	=राक्षसी	**मोघाशाः**	=सब आशाएँ व्यर्थ होती हैं,		
च	=और	**मोघकर्माणः**	=सब शुभकर्म व्यर्थ होते हैं (और)		
मोहिनीम्	=मोहिनी				
प्रकृतिम्	=प्रकृतिका				
एव	=ही				
श्रिताः	=आश्रय लेते हैं,				

विशेष भाव— इस श्लोकमें आसुरी सम्पत्तिकी बात आयी है, जिसका फलसहित विस्तारसे वर्णन भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें किया है। आसुरी सम्पत्तिका फल है—चौरासी लाख योनियोंकी तथा नरकोंकी प्राप्ति (गीता १६।१९-२०)। आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य जो फल चाहते हैं, वह तो उनको नहीं मिलता (**मोघाशाः**), पर अनिष्ट फल (दण्ड) तो उनको मिलता ही है। वे पाप तो करते हैं सुख पानेके लिये, पर सुख तो मिलता नहीं, दुःख जरूर पाना पड़ता है! वे करते तो हैं भगवान्‌की अवज्ञा, पर परिणाममें अपना ही नुकसान करते हैं, भगवान्‌में क्या फर्क पड़ा?

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

तु	=परन्तु	**अनन्यमनसः**	=अनन्यमनवाले	**अव्ययम्**	=(और) अविनाशी
पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**महात्मानः**	=महात्मालोग	**ज्ञात्वा**	=समझकर
दैवीम्	=दैवी	**माम्**	=मुझे	**भजन्ति**	=(मेरा) भजन करते हैं।
प्रकृतिम्	=प्रकृतिके	**भूतादिम्**	=सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि		
आश्रिताः	=आश्रित				

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें पतनकी तरफ जानेवाले संसारी मनुष्योंका वर्णन करके अब उनसे विलक्षण भगवान्‌की तरफ जानेवाले मनुष्यों-(भक्तों-)का वर्णन करते हैं। 'दैवी प्रकृति' का अर्थ है—भगवान्‌का स्वभाव।

आसुरी प्रकृतिके आश्रित मनुष्य न तो भगवान्‌को मानते हैं और न उनकी आज्ञाको ही मानते हैं†। परन्तु

---

* 'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' (४।६), 'सर्वलोकमहेश्वरम्' (५।२९), 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७।७), 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (९।४), 'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्' (१०।३), 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'(१५।१५) आदि-आदि।

† **ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।**
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥
(गीता ३।३२)

'जो मनुष्य मेरे इस मतमें दोषदृष्टि करते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, उन सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और अविवेकी मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझो।'

दैवी प्रकृतिके आश्रित मनुष्य भगवान्‌को भी मानते हैं और उनकी आज्ञाको भी मानते हैं*।

'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्'—अनन्त ब्रह्माण्डोंके अविनाशी बीज भगवान् ही हैं (गीता ७। १०, ९। १८)—इस प्रकार दृढ़तापूर्वक मानना ही भगवान्‌को आदि और अविनाशी जानना है। दृढ़ मान्यता भी जाननेके समान होती है। भगवान् सबके आदि और अविनाशी हैं—इसका वर्णन इसी अध्यायके चौथे श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक हुआ है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

नित्ययुक्ताः	=नित्य-निरन्तर (मुझमें) लगे हुए मनुष्य	**च**	=और	**नमस्यन्तः**	=नमस्कार करते हुए
		भक्त्या	=प्रेमपूर्वक	**सततम्**	=निरन्तर
दृढव्रताः	=दृढव्रती होकर	**कीर्तयन्तः**	=कीर्तन करते हुए		
यतन्तः	=लगनपूर्वक साधनमें लगे हुए	**च**	=तथा	**माम्**	=मेरी
		माम्	=मुझे	**उपासते**	=उपासना करते हैं।

विशेष भाव— भक्त जो कुछ कहता है, वह सब भगवान्‌का ही कीर्तन है। वह जो कुछ क्रिया करता है, वह सब भगवान्‌की ही सेवा है।† (गीता ९। २७)

अनित्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके कारण भक्त नित्ययुक्त होते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

अन्ये	=दूसरे साधक		(अभेदभावसे)	**उपासते**	=मेरी उपासना करते हैं
ज्ञानयज्ञेन	=ज्ञानयज्ञके द्वारा	**माम्**	=मेरा		
एकत्वेन	=एकीभावसे	**यजन्तः**	=पूजन करते हुए	**च**	=और

---

*ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
(गीता ३। ३१)

'जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।'

†कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ३६)

'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अथवा अनुगत स्वभावसे मनुष्य जो-जो करे, वह सब परमपुरुष भगवान् नारायणके लिये ही है, इस भावसे उन्हें समर्पित कर दे।'

सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥
(शिवमानसपूजा)

'हे शम्भो! मेरा चलना-फिरना आपकी परिक्रमा है तथा सम्पूर्ण शब्द आपके स्तोत्र हैं। मैं जो-जो भी कर्म करता हूँ, वह सब आपकी आराधना ही है।'

अपि = दूसरे भी कई साधक
पृथक्त्वेन = (अपनेको) पृथक् मानकर
विश्वतोमुखम् = चारों तरफ मुखवाले मेरे विराट्‌रूपकी अर्थात् संसारको मेरा विराट्‌रूप मानकर सेव्य-सेवकभावसे
बहुधा = (मेरी) अनेक प्रकारसे (उपासना करते हैं)।

विशेष भाव— सभी साधक अपनी रुचि, योग्यता और श्रद्धा-विश्वासके अनुसार अलग-अलग साधनोंसे जिसकी भी उपासना करते हैं, वह भगवान्‌के समग्ररूपकी ही उपासना होती है। आगे सोलहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक इसी समग्ररूपका वर्णन हुआ है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥

क्रतुः = क्रतु
अहम् = मैं हूँ,
यज्ञः = यज्ञ
अहम् = मैं हूँ,
स्वधा = स्वधा
अहम् = मैं हूँ,
औषधम् = औषध
अहम् = मैं हूँ,
मन्त्रः = मन्त्र
अहम् = मैं हूँ,
आज्यम् = घृत
अहम् = मैं हूँ,
अग्निः = अग्नि
अहम् = मैं हूँ (और)
हुतम् = हवनरूप क्रिया
एव = भी
अहम् = मैं हूँ।
वेद्यम् = जाननेयोग्य
पवित्रम् = पवित्र
ओङ्कारः = ओंकार,
ऋक् = ऋग्वेद,
साम = सामवेद
च = और
यजुः = यजुर्वेद
एव = भी
अहम् = मैं ही हूँ।
अस्य = इस
जगतः = सम्पूर्ण जगत्‌का
पिता = पिता,
धाता = धाता,
माता = माता,
पितामहः = पितामह,
गतिः = गति,
भर्ता = भर्ता,
प्रभुः = प्रभु,
साक्षी = साक्षी,
निवासः = निवास,
शरणम् = आश्रय,
सुहृत् = सुहृद्,
प्रभवः = उत्पत्ति,
प्रलयः = प्रलय,
स्थानम् = स्थान,
निधानम् = निधान (भण्डार)
अव्ययम् = (तथा) अविनाशी
बीजम् = बीज (भी मैं ही हूँ)।

विशेष भाव—जैसे ज्ञानकी दृष्टिसे गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८), ऐसे ही भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्‌की वस्तु ही भगवान्‌के अर्पित हो रही है। जैसे कोई गङ्गाजलसे गङ्गाका पूजन करे, दीपकसे सूर्यका पूजन करे, पुष्पोंसे पृथ्वीका पूजन करे, ऐसे ही भगवान्‌की वस्तुसे भगवान्‌का ही पूजन हो रहा है! वास्तवमें देखा जाय तो पूज्य भी भगवान् हैं, पूजाकी सामग्री भी भगवान् हैं, पूजा भी भगवान् हैं तथा पूजक भी भगवान् हैं!

लौकिक बीज तो खेतीसे पैदा होनेवाला होता है, पर भगवान्‌रूपी अलौकिक बीज पैदा होनेवाला नहीं है, इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें अपनेको 'सनातन बीज' बताया—'**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**' (७। १०)। अब यहाँ भगवान् अपनेको 'अव्यय बीज' बताते हैं—'**बीजमव्ययम्**'। कारण कि लौकिक बीज तो

अङ्कुर पैदा करके नष्ट हो जाता है, पर भगवान्‌रूपी अलौकिक बीज अनन्त ब्रह्माण्ड पैदा करके भी ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें किंचिन्मात्र भी विकार नहीं होता। तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण जगत्‌के आदिमें भी रहते हैं और अन्तमें भी रहते हैं। जो आदि और अन्तमें रहता है, वही मध्य-(वर्तमान-) में भी रहता है—यह सिद्धान्त है। जैसे अनेक तरहकी चीजें मिट्टीसे पैदा होती हैं, मिट्टीमें ही रहती हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही मिल जाती हैं। ऐसे ही संसारमात्रके जितने भी बीज हैं, वे सब भगवान्‌से ही पैदा होते हैं, भगवान्‌में ही रहते हैं और अन्तमें भगवान्‌में ही लीन हो जाते हैं (गीता १०। ३९)। तात्पर्य है कि सांसारिक बीज तो उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, पर भगवान्‌रूपी अविनाशी बीज आदि, मध्य और अन्तमें ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः वर्तमानमें संसाररूपसे भगवान् ही हैं। भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है।

~~~

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

अर्जुन	=हे अर्जुन!(संसारके हितके लिये)	**च**	=और (फिर उस जलको)	**मृत्युः**	=मृत्यु
				च	=तथा
अहम्	=मैं (ही)	**वर्षम्**	=(मैं ही) वर्षारूपसे	**सत्**	=सत्
तपामि	=सूर्यरूपसे तपता हूँ,	**उत्सृजामि**	=बरसा देता हूँ। (और तो क्या कहूँ)	**च**	=और
अहम्	=मैं (ही)			**असत्**	=असत् (भी)
निगृह्णामि	=जलको ग्रहण करता हूँ	**अमृतम्**	=अमृत		
		च	=और	**अहम्, एव**	=मैं ही हूँ।

विशेष भाव—सृष्टिसे पहले भी परमात्मा थे और अन्तमें भी परमात्मा रहेंगे, फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? इसलिये अमृत भी भगवान्‌का स्वरूप है और मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है। सत् (परा प्रकृति) भी भगवान्‌का स्वरूप है और असत् (अपरा प्रकृति) भी भगवान्‌का स्वरूप है। जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेला आदिका साग भी होता है अर्थात् मीठा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है और कड़वा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है। ऐसे ही जो हमारे मनको सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है और जो नहीं सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है। सूर्यरूपसे जलको ग्रहण करना और फिर उसको बरसा देना—ये दोनों विपरीत कार्य (ग्रहण और त्याग) भी भगवान् करते हैं। इतना ही नहीं, जलरूपसे ग्रहण किये जानेवाले भी भगवान् हैं, बरसनेवाले भी भगवान् हैं और वर्षारूप क्रिया भी भगवान् हैं!

'सदसच्चाहमर्जुन'—संसारमें सत् (परा) और असत्-(अपरा-) के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। संसार असत् है और उसमें रहनेवाला परमात्मतत्त्व सत् है। शरीर असत् है और उसमें रहनेवाला जीवात्मा सत् है। शरीर और संसार परिवर्तनशील हैं, जीवात्मा और परमात्मा अपरिवर्तनशील हैं। शरीर और संसार नाशवान् हैं, जीवात्मा और परमात्मा अविनाशी हैं (गीता २। १२)। भगवान् कहते हैं कि परिवर्तनशील भी मैं हूँ और अपरिवर्तनशील भी मैं हूँ, नाशवान् भी मैं हूँ और अविनाशी भी मैं हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं। भगवान्‌के सिवाय और कुछ भी नहीं है (गीता ७। ७)।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'—इसमें तो विवेक है, पर **'सदसच्चाहम्'**—इसमें विवेक नहीं है, प्रत्युत विश्वास है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विश्वास विवेकसे भी तेज है। कारण कि विवेक वहीं काम करता है, जहाँ सत् और असत् दोनोंका विचार होता है। जब असत् है ही नहीं तो फिर विवेक क्या करे? असत्‌को मानें तो विवेक है और असत्‌को न मानें तो विश्वास है। विवेकमें सत्-असत्‌का विभाग है, पर विश्वासमें विभाग है ही नहीं। विश्वासमें केवल सत्-ही-सत् अर्थात् परमात्मा-ही-परमात्मा हैं।

ज्ञानमार्गमें विवेककी और भक्तिमार्गमें विश्वास तथा प्रेमकी मुख्यता है। ज्ञानमार्गमें सत्-असत्, जड़-चेतन, नित्य-अनित्य आदिका विवेक मुख्य होनेसे इसमें 'द्वैत' है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌का ही विश्वास मुख्य होनेसे
~~~

इसमें 'अद्वैत' है। तात्पर्य है कि दो सत्ता न होनेसे वास्तविक अद्वैत भक्तिमें ही है।

ज्ञानमार्गमें साधक असत्का निषेध करता है। निषेध करनेसे असत्की सत्ताका भाव बना रह सकता है। साधक असत्के निषेधपर जितना जोर लगाता है, उतना ही असत्की सत्ताका भाव दृढ़ होता है। अत: असत्का निषेध करना उतना बढ़िया नहीं है, जितना उसकी उपेक्षा करना बढ़िया है। उपेक्षा करनेकी अपेक्षा भी 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह भाव और भी बढ़िया है। अत: भक्त न असत्को हटाता है, न असत्की उपेक्षा करता है प्रत्युत सत्-असत् सबमें परमात्माका ही दर्शन करता है; क्योंकि वास्तवमें सब कुछ परमात्मा ही हैं। भगवान् कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

'सृष्टिसे पहले भी मैं ही विद्यमान था, मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं था और सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह संसार दीखता है, वह भी मैं ही हूँ। सत्, असत् तथा सत्-असत्से परे जो कुछ हो सकता है, वह भी मैं ही हूँ। सृष्टिके सिवाय भी जो कुछ है, वह मैं ही हूँ और सृष्टिका नाश होनेपर जो शेष रहता है, वह भी मैं ही हूँ।'

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, अहम् आदि सब कुछ भगवान् ही हैं। जैसे हम मनसे हरिद्वारका चिन्तन करें तो हरिकी पैड़ी, घंटाघर आदि स्थावर भी मन ही बनता है और गङ्गाजी तथा उसमें तैरती हुई मछलियाँ, स्नान करते हुए मनुष्य आदि जंगम भी मन ही बनता है अर्थात् स्थावर भी मन ही हुआ और जंगम भी मन ही हुआ। इसी तरह सत् भी भगवान् हैं और असत् भी भगवान् हैं।

सत् और असत्—ये दो विभाग हमारी दृष्टिमें हैं, तभी भगवान् हमें समझानेके लिये कहते हैं—**'सदसच्चाहम्'**। भगवान्की दृष्टिमें तो एक उनके सिवाय कुछ नहीं है। ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक दृष्टिसे भी देखें तो सत्ता एक ही है। दो सत्ता हो ही नहीं सकती। दूसरी सत्ता माननेसे ही मोह होता है (गीता ७। १३)। राग-द्वेष भी दूसरी सत्ता माननेसे ही होते हैं।

~~~~

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ २०॥

त्रैविद्या	=तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम अनुष्ठान-को करनेवाले (और)	**यज्ञैः**	=यज्ञोंके द्वारा	**सुरेन्द्रलोकम्**	=इन्द्रलोकको
		माम्	=(इन्द्ररूपसे) मेरा	**आसाद्य**	=प्राप्त करके
		इष्ट्वा	=पूजन करके	**दिवि**	=(वहाँ) स्वर्गके
		स्वर्गतिम्	=स्वर्ग-प्राप्तिकी	**दिव्यान्,**	
सोमपाः	=सोमरसको पीनेवाले	**प्रार्थयन्ते**	=प्रार्थना करते हैं,	**देवभोगान्**	=देवताओंके दिव्य भोगोंको
पूतपापाः	=(जो)पापरहित मनुष्य	**ते**	=वे (पुण्योंके फलस्वरूप)		
		पुण्यम्	=पवित्र	**अश्नन्ति**	=भोगते हैं।

विशेष भाव—यहाँ ऐसे मनुष्योंका वर्णन हुआ है, जिनके भीतर संसारकी सत्ता और महत्ता बैठी हुई है और जो भगवान्की अविधिपूर्वक उपासना करनेवाले हैं (गीता ९। २३)। ऐसी मनुष्योंकी उपासनाका फल नाशवान् ही होता है (गीता ७। २३)।

समग्ररूपके अन्तर्गत होनेसे सब भगवान् ही हैं, इसलिये यहाँ इन्द्रके लिये भी **'माम्'** पद आया है। मनुष्यलोककी अपेक्षा पवित्र होनेसे इन्द्रलोकके लिये **'पुण्यम्'** पद आया है।

~~~~

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

ते	=वे	**पुण्ये**	=पुण्य		हुए सकाम धर्मका
तम्	=उस	**क्षीणे**	=क्षीण होनेपर	**अनुप्रपन्नाः**	=आश्रय लिये हुए
विशालम्	=विशाल	**मर्त्यलोकम्**	=मृत्युलोकमें	**कामकामाः**	=भोगोंकी कामना करनेवाले मनुष्य
स्वर्गलोकम्	=स्वर्गलोकके (भोगोंको)	**विशन्ति**	=आ जाते हैं।		
		एवम्	=इस प्रकार	**गतागतम्**	=आवागमनको
भुक्त्वा	=भोगकर	**त्रयीधर्मम्**	=तीनों वेदोंमें कहे	**लभन्ते**	=प्राप्त होते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

ये	=जो	**पर्युपासते**	=(मेरी) भलीभाँति उपासना करते हैं,	**योगक्षेमम्**	=योगक्षेम (अप्राप्त-की प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा)
अनन्याः	=अनन्य				
जनाः	=भक्त	**नित्याभि-**			
माम्	=मेरा	**युक्तानाम्**	=(मुझमें) निरन्तर लगे हुए		
चिन्तयन्तः	=चिन्तन करते हुए			**अहम्**	=मैं
		तेषाम्	=उन भक्तोंका	**वहामि**	=वहन करता हूँ।

विशेष भाव—भगवान् यहाँ पूर्वश्लोकमें वर्णित वैदिक सकामी मनुष्यों और आगेके श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंके उपासकोंकी अपेक्षा अपने भक्तोंकी विशेषता बताते हैं। भगवान्के अनन्यभक्त न तो पूर्वश्लोकमें वर्णित इन्द्रको मानते हैं और न आगेके श्लोकमें वर्णित अन्य देवताओंको मानते हैं। इन्द्रादिकी उपासना करनेवालोंको तो कामनाके अनुसार सीमित फल मिलता है। परन्तु भगवान्की उपासना करनेवालेको असीम फल मिलता है। देवताओंका उपासक तो मजदूर (नौकर) की तरह है और भगवान्की उपासना करनेवाला घरके सदस्यकी तरह है। मजदूर काम करता है तो उसको मजदूरीके अनुसार सीमित पैसे मिलते हैं, पर घरका सदस्य काम करता है तो सब कुछ उसीका होता है।

अनन्यभक्त वे हैं, जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्के सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं है—***'उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥'*** (मानस, अरण्य० ५। ६)।

'योगक्षेमं वहाम्यहम्'—भगवान् साधकको उसके लिये आवश्यक साधन-सामग्री प्राप्त कराते हैं और प्राप्त साधन-सामग्रीकी रक्षा करते हैं—यही भगवान्का योगक्षेम वहन करना है। यद्यपि भगवान् सभी साधकोंका योगक्षेम वहन करते हैं, तथापि अनन्यभक्तोंका योगक्षेम विशेषरूपसे वहन करते हैं; जैसे—प्यारे बच्चेका पालन माँ स्वयं करती है, नौकरोंसे नहीं करवाती।

जैसे भक्तको भगवान्की सेवामें आनन्द आता है, ऐसे ही भगवान्को भी भक्तकी सेवामें आनन्द आता है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!	**अन्यदेवताः**	= अन्य देवताओंका	**यजन्ति**	= पूजन करते हैं,
ये	= जो	**यजन्ते**	= पूजन करते हैं,	**अविधिपूर्वकम्**	= (पर करते हैं) अविधि-पूर्वक अर्थात् देवताओंको मुझसे अलग मानते हैं।
अपि	= भी	**ते**	= वे		
भक्ताः	= भक्त (मनुष्य)	**अपि**	= भी		
श्रद्धया, अन्विताः	= श्रद्धापूर्वक	**माम्**	= मेरा		
		एव	= ही		

विशेष भाव—'त्रैविद्या माम्' (९। २०), **'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'** (९। २२) और **'तेऽपि मामेव'** (९। २३)—तीनों जगह भगवान्‌के लिये **'माम्'** शब्द देनेका तात्पर्य है कि सब कुछ भगवान् ही हैं, इसलिये भगवान् सबको अपना ही स्वरूप जानते हैं। अगर मनुष्यमें कामना न हो और सबमें भगवद्‌बुद्धि हो तो वह किसीकी भी उपासना करे, वह वास्तवमें भगवान्‌की ही उपासना है। तात्पर्य है कि अगर निष्कामभाव और भगवद्‌बुद्धि हो जाय तो उसका पूजन अविधिपूर्वक नहीं रहेगा, प्रत्युत वह भगवान्‌का ही पूजन हो जायगा।

सातवें अध्यायमें **'देवयजः'** पद आया था (७। २३), उसीको यहाँ **'यजन्ते'** पदसे कहा गया है।

~~~

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

हि	= क्योंकि	**अहम्**	= मैं	**न**	= नहीं
सर्वयज्ञानाम्	= सम्पूर्ण यज्ञोंका	**एव**	= ही हूँ;	**अभिजानन्ति**	= जानते,
भोक्ता	= भोक्ता	**तु**	= परन्तु	**अतः**	= इसीसे
च	= और	**ते**	= वे		
प्रभुः	= स्वामी	**माम्**	= मुझे	**च्यवन्ति**	= उनका पतन होता है।
च	= भी	**तत्त्वेन**	= तत्त्वसे		

विशेष भाव—पाँचवें अध्यायके अन्तमें भी भगवान्‌ने अपनेको सम्पूर्ण यज्ञों और तपोंका भोक्ता बताया है—**'भोक्तारं यज्ञतपसाम्'** (५। २९)। वहाँ तो भगवान्‌ने अन्वयरीतिसे अपनेको सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता जाननेवालोंको शान्ति प्राप्त होनेकी बात कही है और यहाँ व्यतिरेकरीतिसे वैसा न जाननेवालोंका पतन होनेकी बात कही है। स्वयं भोक्ता बननेसे ही पतन होता है। भगवान्‌को सम्पूर्ण शुभकर्मोंका भोक्ता माननेसे अपनेमें भोक्तापन या भोगेच्छा नहीं रहती। भोगेच्छा न रहनेसे शान्ति प्राप्त हो जाती है।

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्मोंके महाकर्ता और महाभोक्ता भगवान् ही हैं। परन्तु कर्ता-भोक्ता होते हुए भी भगवान् वास्तवमें निर्लिप्त ही हैं अर्थात् उनमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है—**'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्'** (गीता ४। १३), **'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा'** (गीता ४। १४)।

~~~

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

देवव्रताः	= (सकामभावसे) देवताओंका पूजन		करनेवाले (शरीर छोड़नेपर)	**देवान्**	= देवताओंको
				यान्ति	= प्राप्त होते हैं।

पितृव्रताः	=पितरोंका पूजन करनेवाले	**भूतेज्याः**	=भूत-प्रेतोंका पूजन करनेवाले	**मद्याजिनः**	=(परन्तु) मेरा पूजन करनेवाले
		भूतानि	=भूत-प्रेतोंको	**माम्**	=मुझे
पितॄन्	=पितरोंको			**अपि**	=ही
यान्ति	=प्राप्त होते हैं।	**यान्ति**	=प्राप्त होते हैं।	**यान्ति**	=प्राप्त होते हैं।

विशेष भाव—'व्रत' का अर्थ है—नियम। अतः 'देवव्रत' शब्दका अर्थ हुआ—देवताओंकी उपासनाके नियमोंको धारण करना (गीता ७। २०)। भगवान्‌के शरण होकर उन्हींके लिये कर्म करना भगवान्‌का पूजन है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (गीता १८। ४६)।

मात्र क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे सब भगवान्‌का पूजन हो जाता है (गीता ९। २७)। निष्कामभाव और भगवद्‌बुद्धि होनेसे कोई निषिद्ध क्रिया हो ही नहीं सकती; क्योंकि कामनाके कारण ही निषिद्ध क्रिया होती है (गीता ३। ३६-३७)।

वास्तवमें सब कुछ भगवान्‌का ही रूप है। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता मानता है, उसका उद्धार नहीं होता। वह ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें भी चला जाय तो भी उसको लौटकर संसारमें आना ही पड़ता है (गीता ८। १६)।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

यः	=जो भक्त	**भक्त्या**	=प्रेमपूर्वक	**भक्त्युपहृतम्**	=प्रेमपूर्वक दिये हुए उपहार-(भेंट-) को
पत्रम्	=पत्र,	**मे**	=मेरे		
पुष्पम्	=पुष्प,	**प्रयच्छति**	=अर्पण करता है,		
फलम्	=फल,	**तत्**	=उस (मुझमें)	**अहम्**	=मैं
तोयम्	=जल आदि-(यथा-साध्य एवं अनायास प्राप्त वस्तु-) को	**प्रयतात्मनः**	=तल्लीन हुए अन्तः-करणवाले भक्तके द्वारा	**अश्नामि**	=खा लेता हूँ अर्थात् स्वीकार कर लेता हूँ।

विशेष भाव—देवताओंकी उपासनामें तो अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है (गीता ७। २०); परन्तु भगवान्‌की उपासनामें कोई नियम नहीं है। भगवान्‌की उपासनामें प्रेमकी, अपनेपनकी प्रधानता है, विधिकी नहीं—**'भक्त्या प्रयच्छति', 'भक्त्युपहृतम्'**।

जैसे भोला बालक जो कुछ हाथमें आये, उसको मुँहमें डाल लेता है, ऐसे ही भोले भक्त भगवान्‌को जो भी अर्पण करते हैं, उसको भगवान् भी भोले बनकर खा लेते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११); जैसे—विदुरानीने केलेका छिलका दिया तो भगवान्‌ने उसको ही खा लिया!

'भक्त्या प्रयच्छति' का तात्पर्य है कि भक्त वस्तुको प्रेमपूर्वक भगवान्‌के अर्पण करता है, किसी कामनासे नहीं। देवताओंकी उपासनामें तो वस्तुविशेषकी आवश्यकता होती है, पर भगवान्‌की उपासनामें वस्तुविशेषकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत प्रेमकी आवश्यकता है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

कौन्तेय	=हे कुन्तीपुत्र! (तू)	**यत्**	=जो कुछ	**यत्**	=जो कुछ
यत्	=जो कुछ	**जुहोषि**	=यज्ञ करता है,	**तपस्यसि**	=तप करता है,
करोषि	=करता है,	**यत्**	=जो कुछ	**तत्**	=वह (सब)
यत्	=जो कुछ	**ददासि**	=दान देता है	**मदर्पणम्**	=मेरे अर्पण
अश्नासि	=भोजन करता है,		(और)	**कुरुष्व**	=कर दे।

विशेष भाव—पूर्वश्लोकमें 'पदार्थ' को अर्पण करनेकी और इस श्लोकमें 'क्रिया' को अर्पण करनेकी बात आयी है। आदरपूर्वक देना और उसीकी वस्तु उसीको देना 'अर्पण' कहलाता है। भगवान्‌ने पदार्थोंको तो देनेकी बात बतायी है—'**प्रयच्छति**' और क्रियाओंको अर्पण करनेकी बात बतायी है—'**तत्कुरुष्व मदर्पणम्**'; क्योंकि क्रियाएँ दी नहीं जातीं।

ज्ञानयोगी तो संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करता है, पर भक्त एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता मानता ही नहीं। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानयोगी 'मैं' और 'मेरा' का त्याग करता है तथा भक्त 'तू' और 'तेरा' को स्वीकार करता है। इसलिये ज्ञानयोगी पदार्थ और क्रियाका 'त्याग' करता है तथा भक्त पदार्थ और क्रियाको भगवान्‌के 'अर्पण' करता है अर्थात् उनको अपना न मानकर भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है।

जिस वस्तुमें मनुष्यकी सत्यत्व एवं महत्त्वबुद्धि होती है, उसको मिथ्या समझकर यों ही त्याग देनेकी अपेक्षा किसी व्यक्तिके अर्पण कर देना, उसकी सेवामें लगा देना सुगम पड़ता है। फिर जो परम श्रद्धास्पद, परम प्रेमास्पद भगवान् हैं, उनको अर्पण करनेकी सुगमताका तो कहना ही क्या है! दूसरी बात, त्यागीको त्यागका अभिमान भी आ सकता है, पर अर्पण करनेवालेको अभिमान नहीं आ सकता; क्योंकि जिसकी वस्तु है, उसीको देनेसे अभिमान कैसे आयेगा? '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**'। सम्पूर्ण वस्तुएँ (मात्र संसार) सदासे ही भगवान्‌की हैं। उनको भगवान्‌के अर्पण करना केवल अपनी भूल (उनको अपना मान लिया—यह भूल) मिटाना है। भूल मिटनेपर अभिमान नहीं होता, प्रत्युत प्रसन्नता होती है।

संसारको भगवान्‌का मानते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् संसार लुप्त हो जाता है, संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती (जो वास्तवमें है ही नहीं), प्रत्युत भगवान् ही रह जाते हैं (जो वास्तवमें हैं)। अतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये भक्तको विवेककी जरूरत नहीं है। वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद (त्याग) नहीं करता, प्रत्युत उसको भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप मानता है; क्योंकि अपरा प्रकृति भगवान्‌की ही है (गीता ७। ४)।

~~~

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

एवम्	=इस प्रकार (मेरे अर्पण करनेसे)		(निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे		अर्पण करनेवाला (और)
कर्मबन्धनैः	=कर्मबन्धनसे (और)	**मोक्ष्यसे**	=(तू) मुक्त हो जायगा।	**विमुक्तः**	=सबसे सर्वथा मुक्त हुआ (तू)
शुभाशुभफलैः	=शुभ (विहित) और अशुभ	**सन्न्यासयोग-युक्तात्मा**	ऐसे अपनेसहित = सब कुछ मेरे	**माम्**	=मुझे
				उपैष्यसि	=प्राप्त हो जायगा।
~~~

विशेष भाव— भगवान्‌ने **'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्'** (९। २५) से जो बात कहनी आरम्भ की थी, उसीका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको अपनेसहित मेरे अर्पण करनेसे तू कर्मबन्धनसे तथा शुभ-अशुभ दोनों कर्मोंके फलोंसे मुक्त होकर मेरेको ही प्राप्त हो जायगा।

'कर्म' भी शुभ-अशुभ होते हैं और 'फल' भी शुभ-अशुभ होता है। दूसरोंके हितके लिये करना 'शुभ कर्म' है और अपने लिये करना 'अशुभ कर्म' है। अनुकूल परिस्थिति 'शुभ फल' है और प्रतिकूल परिस्थिति 'अशुभ फल' है। भगवान्‌का भक्त शुभ-कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, अशुभ कर्म करता ही नहीं और शुभ-अशुभ फलसे अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी नहीं होता। उसके अनन्त जन्मोंके संचित शुभाशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं; जैसे—जलता हुआ घासका टुकड़ा फेंकनेसे सब घास जल जाता है!

भगवान्‌के अर्पण करनेसे संसारका सम्बन्ध (गुणसंग) नहीं रहता, केवल भगवान्‌का सम्बन्ध रह जाता है, जो कि स्वतः पहलेसे ही है—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७)। जो अपना नहीं है, उसको अपना माननेसे सिवाय बन्धनके कुछ नहीं होता। अपना माननेसे वस्तु तो रहती नहीं, केवल बन्धन रह जाता है। भक्तका किसी भी वस्तु, व्यक्ति और क्रियामें अपनापन न रहनेसे वह **'विमुक्त'** हो जाता है।

यहाँ समर्पणयोगको 'संन्यासयोग' नामसे कहा गया है।

'मामुपैष्यसि' पदका तात्पर्य है कि भक्त भगवान्‌से अभिन्न हो जाता है, उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७। १८)। इसीको प्रेमाद्वैत कहा गया है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

अहम्	= मैं	**अस्ति**	= है (और)	**भजन्ति**	= भजन करते हैं,
सर्वभूतेषु	= सम्पूर्ण प्राणियोंमें	**न**	= न कोई	**ते**	= वे
समः	= समान हूँ।	**प्रियः**	= प्रिय है।	**मयि**	= मुझमें हैं
न	= (उन प्राणियोंमें) न तो कोई	**तु**	= परन्तु	**च**	= और
		ये	= जो	**अहम्**	= मैं
मे	= मेरा	**भक्त्या**	= प्रेमपूर्वक	**अपि**	= भी
द्वेष्यः	= द्वेषी	**माम्**	= मेरा	**तेषु**	= उनमें हूँ।

विशेष भाव—'समोऽहं सर्वभूतेषु'—जीव भगवान्‌को अपनी क्रियाएँ और पदार्थ अर्पण करे अथवा न करे, भगवान्‌में कुछ फर्क नहीं पड़ता। वे तो सदा समान ही रहते हैं। किसी वर्णविशेष, आश्रमविशेष, जातिविशेष, कर्मविशेष, योग्यताविशेष आदिका भी भगवान्‌पर कोई असर नहीं पड़ता। अतः प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति आदिका मनुष्य उनके सम्मुख हो सकता है, उनका भक्त हो सकता है, उनको प्राप्त कर सकता है।

'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'—भगवान्‌की दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, फिर उनके द्वेष और प्रेमका विषय दूसरा कैसे हो सकता है? जीव ही शुभाशुभ कर्म और उनके फलसे राग-द्वेष करके संसारमें बँध जाता है और राग-द्वेषका त्याग करके मुक्त हो जाता है। इसलिये बन्धन और मुक्ति जीवकी ही होती है, भगवान्‌की नहीं। विषमता जीव करता है, भगवान् नहीं। भगवान् तो ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

चौथे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'**, वही बात भगवान्‌ने यहाँ **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** पदोंसे कही है। भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण हैं, उनमें विषमता नहीं है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं, वे भगवान्‌में हैं और भगवान् उनमें हैं अर्थात् भगवान् उनमें विशेषरूपसे प्रकट हैं। तात्पर्य है कि जैसे पृथ्वीमें जल सब जगह रहता है, पर कुएँमें वह विशेष प्रकट (आवरणरहित) होता है, ऐसे ही भगवान् संसारमात्रमें परिपूर्ण होते हुए भी भक्तोंमें विशेष प्रकट होते हैं। भक्तोंमें यह विलक्षणता प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेसे भगवत्कृपासे ही आयी है। जैसे गायके शरीरमें रहनेवाला घी गायके काम नहीं आता, प्रत्युत उसके दूधसे निकाला हुआ घी ही उसके काम आता है, ऐसे ही संसारमें परिपूर्ण होनेमात्रसे भगवान्‌के द्वारा लोगोंके पाप नहीं कटते, प्रत्युत जो भगवान्‌के सम्मुख होते हैं, प्रेमपूर्वक उनका भजन करते हैं, उनके ही पाप कटते हैं*। सामान्य प्राणी भगवान्‌के अन्तर्गत होते हुए भी भगवान्‌को नहीं देखते, पर भक्त सब जगह भगवान्‌को देखते हैं†। भक्त भगवान्‌से प्रेम करते हैं और भगवान् भक्तसे प्रेम करते हैं—**'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'** (गीता ७। १७)। इसलिये भक्त भगवान्‌में हैं और भगवान् भक्तोंमें हैं—**'मयि ते तेषु चाप्यहम्'**। तात्पर्य यह निकला कि विषमता भगवान्‌में नहीं है, प्रत्युत प्राणियोंने ही विषमता की है, जो कि भगवान्‌से विमुख हैं।

तत्त्वसे तो भगवान् **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** हैं, पर अनुभव करनेमें भगवान् **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे परिपूर्ण होनेपर भी भगवान्‌का अनुभव भक्त ही करते हैं, अन्य प्राणी नहीं। वास्तवमें अनुभव करनेकी शक्ति भी भगवान्‌से ही प्राप्त होती है। मनुष्यका काम केवल भगवान्‌के सम्मुख होना है।

रामायणमें आया है—

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

(मानस, अरण्य० ३६। २)

तात्पर्य है कि भगवान्‌की सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान व्यापकता, प्रियता, कृपा तथा आत्मीयता है, पर भक्तोंमें वे विशेष दीखते हैं। भक्तोंमें यह विशेषता भगवान्‌में प्रेम होनेसे भगवत्कृपासे आती है और भगवान्‌की ही दी हुई होती है। भक्तोंकी भगवान्‌में जैसी तल्लीनता, प्रियता होती है, वैसी दूसरोंकी नहीं होती। इसलिये भगवान्‌की भी भक्तोंमें प्रियता होती है। भक्त और भगवान्‌की परस्पर प्रियताको **'मयि ते तेषु चाप्यहम्'** पदोंसे कहा गया है।

~~~

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥

चेत्	=अगर (कोई)	**माम्**	=मेरा	**मन्तव्यः**	=मानना चाहिये।
सुदुराचारः	=दुराचारी-से-दुराचारी	**भजते**	=भजन करता है (तो)	**हि**	=कारण कि
		सः	=उसको	**सः**	=उसने
अपि	=भी	**साधुः**	=साधु	**सम्यक्, व्यवसितः**	=निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।
अनन्यभाक्	=अनन्यभक्त होकर	**एव**	=ही		

* **सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥** (मानस, सुन्दर० ४४। १)

† **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६। ३०)
~~~

विशेष भाव—ज्ञानयोग और कर्मयोगमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है—**'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'** (गीता २। ३९)। इसलिये ज्ञानयोगी और कर्मयोगीकी बुद्धि व्यवसित होती है—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह'** (गीता २। ४१), **'व्यवसायात्मिका बुद्धिः'** (गीता २। ४४)। परन्तु भक्तियोगमें स्वयंकी प्रधानता रहती है, इसलिये भक्त स्वयं व्यवसित होता है—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'।**

मन-बुद्धिमें बैठी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है, पर स्वयंमें बैठी हुई बातकी विस्मृति नहीं हो सकती। कारण कि मन-बुद्धि अपने साथ निरन्तर नहीं रहते, सुषुप्तिमें हमें उनके अभावका अनुभव होता है, पर स्वयंके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। उस स्वयंमें जो बात होती है, वह अखण्ड रहती है। इसलिये 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति स्वयंमें होती है, मन-बुद्धिमें नहीं। एक बार यह स्वीकृति होनेपर फिर कभी अस्वीकृति होती ही नहीं; क्योंकि स्वयं मूलमें भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है। परन्तु भूलसे यह प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है (गीता १५। ७)। अतः वास्तवमें केवल अपनी भूल ही मिटती है। भूल मिटते ही भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धकी स्वतः जागृति हो जाती है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३)। दूसरेके साथ सम्बन्ध माना था, यही भूल थी, मोह था।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१ ॥

क्षिप्रम्	=(वह) तत्काल (उसी क्षण)	**शान्तिम्**	=शान्तिको	**प्रणश्यति, न**	=पतन नहीं होता—
		निगच्छति	=प्राप्त हो जाता है।		
धर्मात्मा	=धर्मात्मा	**कौन्तेय**	=हे कुन्तीनन्दन!		
भवति	=हो जाता है (और)	**मे**	=मेरे	**प्रतिजानीहि**	=(ऐसी तुम) प्रतिज्ञा करो।
शश्वत्	=निरन्तर रहनेवाली	**भक्तः**	=भक्तका		

विशेष भाव—जैसे रोगीका वैद्यके साथ सम्बन्ध हो जाता है, ऐसे ही अपनी निर्बलताका और भगवान्‌की सर्वसमर्थताका विश्वास होनेपर मनुष्यका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य है कि जब मनुष्य संसारके दुःखोंसे घबरा जाता है और उनको मिटानेमें अपनी निर्बलताका अनुभव करता है, पर साथ-ही-साथ उसमें यह विश्वास रहता है कि सर्वसमर्थ भगवान्‌की कृपाशक्तिसे मेरी यह निर्बलता दूर हो सकती है, मैं सांसारिक दुःखोंसे बच सकता हूँ, तब वह तत्काल 'भक्त' हो जाता है—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'।** भूखे व्यक्तिको अन्न मिल जाय तो क्या भोजन करनेमें देरी लगेगी?

जबतक मनुष्यको अपनेमें कुछ बल, योग्यता, विशेषता दीखती है, तबतक वह 'अनन्यभाक्' नहीं होता। वह 'अनन्यभाक्' तभी होता है, जब उसको दूसरा कोई उसके दुःखोंको मिटानेवाला नहीं दीखता। 'अनन्यभाक्' होते ही वह धर्मात्मा अर्थात् भगवान्‌का भक्त हो जाता है।

भक्तका पतन नहीं होता; क्योंकि वह भगवन्निष्ठ होता है अर्थात् उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं; उसका अपना बल नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌का ही बल होता है। यहाँ शंका हो सकती है कि अगर भक्तका पतन नहीं होता तो भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायमें अर्जुनको **'अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** (१८। ५८) 'यदि तू अहंकारके कारण मेरी बात नहीं सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा'—ऐसा क्यों कहा? जबकि भगवान् अर्जुनको अपना भक्त भी मानते हैं—**'भक्तोऽसि मे सखा चेति'** (गीता ४। ३)? इसका समाधान है कि भक्तका पतन तभी हो सकता है, जब वह भगवान्‌का आश्रय छोड़कर अहंकारका आश्रय ले ले—**'अहङ्कारान्न श्रोष्यसि'**। भगवान्‌का आश्रय रहते हुए उसका पतन नहीं हो सकता।

भक्त भगवान्‌के छोटे बालक हैं और ज्ञानी बड़े बालक हैं। जैसे माँको छोटे-बड़े सभी बालक समानरूपसे प्रिय लगते हैं, पर वह सँभाल छोटे बालककी ही करती है, बड़ेकी नहीं। कारण कि छोटा बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है; अत: उसके सँभालकी जितनी आवश्यकता है, उतनी बड़ेके लिये आवश्यकता नहीं है। ऐसे ही भगवान् अपने आश्रित भक्तकी पूरी सँभाल करते हैं और स्वयं उसके योगक्षेमका वहन करते हैं (गीता ९। २२)। परन्तु ज्ञानीके योगक्षेमका वहन कौन करे? इसलिये ज्ञानका साधक तो योगभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त योगभ्रष्ट नहीं हो सकता।

ब्रह्मादि देवता भगवान्‌से कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३२)

'हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणोंकी शरण नहीं लेते और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३३)

'परन्तु भगवन्! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो! आपके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकता।'

भगवान्‌की स्तुति करते हुए वेद कहते हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥

(मानस, उत्तर० १३। ३)

ज्ञानयोगके साधकमें कुछ कमी रहनेसे पतन हो सकता है, पर भक्तियोगके साधकमें कुछ कमी रहनेपर भी पतन नहीं होता। इसलिये भगवान् कहते हैं—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते

रहते हैं, अपनी ओर खींचते रहते हैं तो भी वह प्रतिक्षण बढ़नेवाली मेरी भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।

(महाभारत, अनु० १४९। १३१)

'भगवान्‌के भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता।'

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६। ४)

'**कौन्तेय प्रतिजानीहि**'—भगवान् अर्जुनको प्रतिज्ञा करनेके लिये कहते हैं; क्योंकि भक्तकी प्रतिज्ञा भगवान् भी टाल नहीं सकते। भक्ति भगवान्‌की कमजोरी है। इसलिये भगवान्‌ने दुर्वासासे कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

'**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति**'—इन पदोंसे साधकको यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि मेरा पतन हो ही नहीं सकता; क्योंकि मैं भगवान्‌का ही हूँ।

~~~~

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**वैश्याः**	=वैश्य	**व्यपाश्रित्य**	=सर्वथा मेरे शरण होकर
ये	=जो	**तथा**	=और	**हि**	=निःसन्देह
अपि	=भी	**शूद्राः**	=शूद्र (हों),	**पराम्**	=परम
पापयोनयः	=पापयोनिवाले	**ते**	=वे	**गतिम्**	=गतिको
स्युः	=हों (तथा जो भी)	**अपि**	=भी	**यान्ति**	=प्राप्त हो जाते हैं।
स्त्रियः	=स्त्रियाँ,	**माम्,**			

विशेष भाव—जिसमें दूसरेका आश्रय नहीं है, ऐसे अनन्य आश्रयको यहाँ 'व्यपाश्रय' अर्थात् विशेष आश्रय कहा गया है।

पूर्वजन्मके पापीकी अपेक्षा वर्तमानका पापी विशेष दोषी होता है, इसलिये पहले (९। ३०-३१में) वर्तमान (इस जन्मके) पापीकी बात कहकर अब इस श्लोकमें पूर्वजन्मके पापीकी बात कहते हैं—'**येऽपि स्युः पापयोनयः**'।

~~~~

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

पुण्याः	=(जो) पवित्र आचरण करने-वाले	**ब्राह्मणाः**	=ब्राह्मण	**तथा**	=और
				राजर्षयः	=ऋषिस्वरूप क्षत्रिय

भक्ताः	=भगवान्‌के भक्त हों, (वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ)		ही क्या है!	**लोकम्**	=शरीरको
किम्, पुनः	=इसमें तो कहना	**इमम्**	=(इसलिये) इस	**प्राप्य**	=प्राप्त करके (तू)
		अनित्यम्	=अनित्य (और)	**माम्**	=मेरा
		असुखम्	=सुखरहित	**भजस्व**	=भजन कर।

विशेष भाव— तीसवेंसे तैंतीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने भक्तिके तथा भगवत्प्राप्तिके सात अधिकारियोंके नाम लिये हैं—दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इन सातोंसे बाहर कोई भी प्राणी नहीं है। कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो और पूर्वजन्मके कितने ही पाप हों, पर भगवान् और उनकी भक्तिके मनुष्यमात्र अधिकारी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंका नाम इन श्लोकोंमें आ गया। कोई चारों वर्णोंमें केवल पुरुष-ही-पुरुष न समझ ले, इसलिये स्त्रियोंका नाम अलगसे आया है। जो चारों वर्णोंसे नीचे हैं, वे यवन, हूण, खस आदि सब पापयोनिमें आ गये। मनुष्योंके सिवाय दूसरे जीव (पशु, पक्षी आदि) भी पापयोनिमें लिये जा सकते हैं; क्योंकि जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश होनेसे भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) किसीके लिये भी मनाही नहीं है।

जो वर्तमानमें पाप कर रहा है, वह 'दुराचारी' है और पूर्वजन्मके पापोंके कारण जिसका नीच योनिमें जन्म हुआ है, वह 'पापयोनि' है। तात्पर्य है कि दुराचारी-से-दुराचारी और नीच-से-नीच योनिवाला भी भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है। अतः जाति और आचरणको लेकर मनुष्यको भगवत्प्राप्तिसे निराश नहीं होना चाहिये। जाति और आचरण अनित्य तथा बनावटी हैं, पर भगवान्‌के साथ मनुष्यका सम्बन्ध नित्य तथा वास्तविक है। इसलिये भगवान् केवल भक्तिका नाता (सम्बन्ध) ही मानते हैं, जाति-आचरणका नहीं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(मानस, अरण्य० ३५। २-३)

संसारमें लोग बाहरके जाति-आचरणको देखते हैं, भीतरके तत्त्व- (वास्तविकता-) को नहीं देखते; परन्तु भगवान् तत्त्वको देखते हैं कि यह सदासे ही मेरा अंश है!

सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्‌ने भीतरके भावोंको लेकर भक्तोंके अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार भेद बताये हैं और यहाँ बाहरकी मान्यता-(जाति तथा आचरण-) को लेकर लौकिक दृष्टिसे भक्तोंके सात भेद बताये हैं। सातवें अध्यायमें तो उन भक्तोंकी बात है, जो भगवान्‌में लगे हुए हैं और यहाँ उन मनुष्योंकी बात है, जो भगवान्‌में लग सकते हैं। तात्पर्य है कि वर्ण, आश्रम, वेश-भूषा, जाति, सम्प्रदाय आदि अलग-अलग होते हुए भी सभी मनुष्य अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त बन सकते हैं और भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। भगवत्प्राप्तिके विषयमें सब एक है, कोई छोटा-बड़ा नहीं है। भगवत्प्राप्तिका अनधिकारी किसी भी योनिमें कोई है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।

'**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा**'—इस श्लोकार्धके बीचमें '**भक्ताः**' पद देनेका तात्पर्य है कि पवित्र आचरणवाले ब्राह्मणोंकी और ऋषिस्वरूप क्षत्रियोंकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनमें जो भक्ति है, उस भक्तिकी महिमा है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌का न तो दुराचारी तथा पापयोनिके साथ द्वेष है और न पुण्यात्मा ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके साथ पक्षपात है। वे तो सब प्राणियोंमें समान हैं (गीता ९। २९)। परन्तु जो प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन करता है, वह किसी भी देश, वेश, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिका क्यों न हो, उसका भगवान्‌से घनिष्ठ सम्बन्ध है—'**मयि ते तेषु चाप्यहम्**' (गीता ९। २९)। अतः दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये सातों भक्तिमें एक हो जाते हैं, इनमें कोई भेद नहीं रहता। इसलिये भगवान् भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—'**भजस्व माम्**'। भजन करनेका अर्थ है—

भगवान्‌के सम्मुख होना, भगवान्‌में प्रियता (अपनापन) होना, भगवान्‌की प्राप्तिका उद्देश्य होना। भगवद्बुद्धिसे दूसरोंकी सेवा करना, दूसरोंको देनेका भाव रखना, अभावग्रस्तोंकी सहायता करना—यह भी भजन है।

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'—अनित्य और सुखरहित इस शरीरको पाकर अर्थात् हम जीते रहें और सुख भोगते रहें—ऐसी कामनाको छोड़कर भगवान्‌का भजन करना चाहिये। कारण कि संसारमें सुख है ही नहीं, केवल सुखका भ्रम है। ऐसे ही जीनेका भी भ्रम है। हम जी नहीं रहे हैं, प्रत्युत प्रतिक्षण मर रहे हैं!

पहले उन्तीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ। इसलिये यहाँ भगवान् भजन करनेकी आज्ञा देते हैं—**'भजस्व माम्'**।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

मद्भक्तः	=(तू) मेरा भक्त	**माम्**	=(और) मुझे	**मत्परायणः**	=मेरे परायण हुआ (तू)
भव	=हो जा,	**नमस्कुरु**	=नमस्कार कर।	**माम्**	=मुझे
मन्मनाः	=मुझमें मनवाला हो जा,	**एवम्**	=इस प्रकार	**एव**	=ही
मद्याजी	=मेरा पूजन करनेवाला हो जा	**आत्मानम्**	=अपने-आपको	**एष्यसि**	=प्राप्त होगा।
		युक्त्वा	=(मेरे साथ) लगाकर		

विशेष भाव—इस श्लोकमें अहंता-परिवर्तनकी बात मुख्य है। भक्त 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार अपनी अहंताको बदलता है और खुदका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है। इसलिये उसको संसारके सम्बन्धका त्याग करना नहीं पड़ता, प्रत्युत वह स्वतः छूट जाता है। कारण कि वर्ण, आश्रम, जाति, योग्यता, अधिकार, कर्म, गुण आदिका भेद होनेपर भी ये सब आगन्तुक हैं, पर स्वयंके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध आगन्तुक नहीं है, प्रत्युत अनादि, नित्य और स्वतःसिद्ध है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

॥ श्रीहरिः ॥

नवें अध्यायका सार

भगवान्‌ने सातवें अध्यायसे 'ज्ञान' और 'विज्ञान' का विषय कहना आरम्भ किया है। 'ज्ञान' से संसारसे मुक्ति होती है और 'विज्ञान' से भगवान्‌में प्रेम होता है। बीचमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर आठवें अध्यायमें दूसरा विषय चला। परन्तु नवें अध्यायसे भगवान् पुनः वही विषय कहना आरम्भ करते हैं।

सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने संसारकी उत्पत्तिका कारण बताया कि परा और अपरा—इन दोनों मेरी प्रकृतियोंके संयोगसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है (७। ६)। परन्तु नवें अध्यायमें संसारकी स्थिति बताते हैं कि जिनकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, उन साधकोंके लिये संसार मेरेमें है और मैं संसारमें हूँ (९। ४—६)। इसीको छठे अध्यायमें कहा है—**'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'** (६। ३०)। परन्तु जिन सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उनकी दृष्टिमें एक मैं-ही-मैं हूँ—**'वासुदेवः सर्वम्'।**

भगवान् कहते हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला तथा धारण करनेवाला मैं ही हूँ, तथापि मैं उन प्राणियोंके आश्रित नहीं हूँ, प्रत्युत वे प्राणी ही मेरे आश्रित हैं (९। ५)। जैसे आकाशमें रहनेवाली वायु आकाशके आश्रित होती है, पर आकाश वायुके आश्रित नहीं होता, ऐसे ही परा और अपरा प्रकृति तो भगवान्‌का स्वभाव होनेसे भगवान्‌के आश्रित (अधीन) है, पर भगवान् परा और अपरा प्रकृतिके आश्रित नहीं हैं। इसलिये जैसे वायु आकाशसे ही उत्पन्न होती है, आकाशमें ही स्थित रहती है और आकाशमें ही लीन होती है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी महासर्गमें भगवान्‌से ही प्रकट होते हैं, भगवान्‌में ही स्थित रहते हैं और महाप्रलयमें भगवान्‌में ही लीन होते हैं (९। ७)। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिके आश्रित हैं और प्रकृति भगवान्‌के आश्रित है (९। ८)। दूसरे शब्दोंमें, भगवान्‌के एक अंशमें प्रकृति है और प्रकृतिके एक अंशमें प्राणी हैं। इसलिये सृष्टिकी रचना करनेपर भी भगवान् सृष्टि-रचनारूप कर्मसे बँधते नहीं (९। ९); क्योंकि वास्तवमें सृष्टि-रचनाका कार्य भगवान्‌के आश्रित रहनेवाली प्रकृति ही करती है (९। १०)। इस रहस्यको न जाननेके कारण बेसमझ लोग भगवान्‌को भी अपनी तरह शरीर-(अपरा-)के आश्रित मान लेते हैं कि जैसे हम शरीरके बिना नहीं रह सकते, ऐसे ही भगवान् भी शरीरके बिना नहीं रह सकते (९। ११)। ऐसे लोग आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृतिके आश्रित रहनेवाले होते हैं (९। १२)। वास्तवमें जैसे मनुष्यमें शरीर और शरीरीका भेद रहता है, ऐसे भगवान्‌में शरीर-शरीरीका भेद नहीं है—**'सदसच्चाहमर्जुन'** (९। १९)। इसलिये जो मनुष्य भगवान्‌को प्रकृतिके आश्रित नहीं समझते, वे दैवी प्रकृतिके आश्रित रहनेवाले होते हैं अर्थात् वे प्रकृतिके आश्रित न होकर भगवान्‌के आश्रित होते हैं (९। १३)। भगवान्‌के आश्रित होनेके कारण वे 'महात्मा' कहलाते हैं।

कर्मयोग 'शरीर'-(अपरा-) की मुख्यतासे चलता है और ज्ञानयोग 'शरीरी'- (परा-) की मुख्यतासे चलता है। एक देश-(शरीर अथवा शरीरी-) को लेकर चलनेसे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी एकदेशीय होते हैं। परन्तु भक्तियोग भगवान्‌की मुख्यतासे चलता है। इसलिये भक्तको भगवान्‌ने 'महात्मा' अर्थात् महान् आत्मा कहा है। वे अनन्यमनसे भगवान्‌का भजन करते हैं। कारण कि जब उनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्यकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, तो फिर उनका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जाय? इसलिये वे भगवान्‌में नित्ययुक्त रहते हैं, कभी भगवान्‌से अलग होते ही नहीं—**'नित्ययुक्ताः'** (९। १४), **'नित्याभियुक्तानाम्'** (९। २२)।

साधक कई प्रकारके होते हैं और अलग-अलग साधनोंसे भिन्न-भिन्न उपास्यदेवोंकी उपासना करते हैं। परन्तु वास्तवमें उन सभी साधकोंके द्वारा एक ही समग्र भगवान्‌की उपासना होती है—**'मामुपासते'** (९। १५), **'त्रैविद्या माम्'** (९। २०), **'तेऽपि मामेव'** (९। २३), **'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'** (९। २४)। कारण कि एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं (९। १६—१९)। इस रहस्यको न समझनेके कारण जो लोग अपने उपास्यदेवको भगवान्‌से अलग मानकर सकामभावसे उनकी उपासना करते हैं, उनकी उपासना वास्तवमें भगवान्‌की होनेपर भी अविधिपूर्वक होती है। इसलिये उनका पतन हो जाता है अर्थात् वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं (९। २३-२४)। परन्तु भगवान्‌की उपासना करनेवाले भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं।

जो लोग भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवी-देवताओंकी उपासना करते हैं, उनको अनेक नियमों, विधियों आदिकी जरूरत पड़ती है, जिसमें बड़ी कठिनता होती है। परन्तु भगवान्‌की उपासनामें भावकी जरूरत है, क्रियाओं-(नियमों, विधियों आदि-) की जरूरत नहीं है (९। २६-२७)। भगवान् क्रियाग्राही नहीं हैं, प्रत्युत भावग्राही हैं—**'भावग्राही जनार्दनः'।** इसलिये भक्तको सुगमतापूर्वक भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, मनुष्य किसी भी आचरण, वर्ण, आश्रम, जाति आदिका क्यों न हो, वह भगवान्‌का भक्त होकर सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो सकता है (९। ३०—३३)।

नवें अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं—**'मन्मना भव०'** (९। ३४)। इसका तात्पर्य है कि जो कुछ भी है, वह मैं ही हूँ, मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं (७। २९-३०)। इस बातको दृढ़तासे स्वीकार करना ही **'मन्मना भव०'** आदि पदोंका तात्पर्य है।

~~~~

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

चतुःश्लोकी भागवत

गीताके सातवें-नवें अध्यायोंमें जो विषय (विज्ञानसहित ज्ञान) आया है, वही विषय **'चतुःश्लोकी भागवत'** में भी बड़े सुन्दर ढंगसे आया है। यह साधकोंके लिये बहुत उपयोगी है। इसलिये इसको यहाँ अन्वय और अर्थसहित दिया जा रहा है।

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥

श्रीभगवान् बोले—

मे =(ब्रह्माजी!) मेरा
यत् =जो
परमगुह्यम् =अत्यन्त गोपनीय
विज्ञान-समन्वितम् =विज्ञानसहित
ज्ञानम् =ज्ञान है, (वह)
च =तथा
सरहस्यम् =रहस्यसहित
तदङ्गम् =उसके अंग
मया =मेरे द्वारा
गदितम् =कहे गये हैं,
गृहाण =(उसको) तुम ग्रहण करो अर्थात् धारण करो।

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

अहम् =मैं
यावान् =जितना हूँ,
यथाभावः =जिन-जिन भावोंवाला हूँ,
यद्रूपगुणकर्मकः=जिन-जिन रूपों, गुणों और कर्मोंवाला हूँ,
तत्त्वविज्ञानम्= (उस मेरे समग्ररूपके) तत्त्वका यथार्थ अनुभव
ते =तुम्हें
मदनुग्रहात् =मेरी कृपासे
तथैव =ज्यों-का-त्यों
अस्तु =हो जाय।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
~~~~

अग्रे = सृष्टिसे पहले
एव = भी
अहम् = मैं
एव = ही
आसम् = विद्यमान था,
अन्यत् = मेरे सिवाय और कुछ भी
न = नहीं था
च = और
यत् = (सृष्टि उत्पन्न होनेके बाद) जो कुछ भी
एतत् = यह संसार दीखता है (वह भी मैं ही हूँ)।
सत् = सत् (चेतन, अविनाशी)
असत् = असत् (जड़, नाशवान्) तथा
परम् = (सत्-असत्से) परे
यत् = जो कुछ कल्पना की जा सकती है (वह भी मैं ही हूँ)।
पश्चात् = सृष्टिके सिवाय भी (जो कुछ है, वह)
अहम् = मैं ही हूँ
यः = (और सृष्टिका नाश होनेपर) जो
अवशिष्येत = शेष रहता है,
सः = वह (भी)
अहम् = मैं ही
अस्मि = हूँ।

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥

यथा = जैसे
यत् = कोई
अर्थम् = वस्तु
ऋते = बिना होते हुए भी
तमः = अज्ञानरूप अन्धकारके कारण
प्रतीयेत = प्रतीत होती है, (ऐसे ही संसार न होते हुए भी)
आत्मनि = मेरेमें (प्रतीत होता है)
च = और
यथा = जैसे
आभासः = ज्ञानरूप प्रकाश (होते हुए भी)
न प्रतीयेत = (उधर दृष्टि न रहनेसे) प्रतीत नहीं होता अर्थात् अनुभवमें नहीं आता, (ऐसे ही मैं होते हुए भी नहीं दीखता)
तत् = ये दोनों (संसारका विद्यमान न होते हुए भी दीखना और मेरा विद्यमान होते हुए भी न दीखना)
आत्मनः = मेरी
मायाम् = माया है—ऐसा
विद्यात् = समझना चाहिये।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥

यथा = जिस तरह
महान्ति भूतानि = पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँचों महाभूत
उच्चावचेषु भूतेषु = प्राणियोंके छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे सभी शरीरोंमें
अनुप्रविष्टानि = प्रविष्ट होते हुए भी
अप्रविष्टानि = (वास्तवमें) प्रविष्ट नहीं हैं अर्थात् वे-ही-वे हैं,
तथा = उसी तरह
अहम् = मैं
तेषु = उन प्राणियोंमें (प्रविष्ट होते हुए भी)
तेषु = (वास्तवमें) उनमें
न = प्रविष्ट नहीं हूँ अर्थात् मैं-ही-मैं हूँ।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥

आत्मनः = मुझ परमात्माके
तत्त्वजिज्ञासुना = तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले साधकको
अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम् = अन्वय और व्यतिरेक-रीतिसे अर्थात् संसारमें मैं हूँ और मेरेमें संसार है—

ऐसे अन्वय-रीतिसे तथा न संसारमें मैं हूँ और न मेरेमें संसार है, प्रत्युत मैं-ही-मैं हूँ—ऐसे व्यतिरेकरीतिसे

एतावत् = इतना
एव = ही
जिज्ञास्यम् = जानना आवश्यक है
यत् = कि

सर्वत्र = सब जगह
सर्वदा = और सब समयमें
स्यात् = (मैं परमात्मा ही) विद्यमान हूँ अर्थात् मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥

भवान् = (ब्रह्माजी!) तुम
एतत् = मेरे इस
मतम् = मतके अनुसार
परमेण = सर्वश्रेष्ठ

समाधिना = समाधि-(सहज समाधि-)में
समातिष्ठ = भलीभाँति स्थित हो जाओ।
कल्पविकल्पेषु = (फिर तुम) कल्प-कल्पान्तरोंमें
कर्हिचित् = कभी भी
न विमुह्यति = मोहको प्राप्त नहीं होओगे।

(श्रीमद्भागवत २। ९। ३०—३६)

~~~~
~~~~